कोई निश्चित नियम नहीं है कि श्रावक को प्रतिदिन कितनी सामायिक करनी चाहिए? श्रावक अपनी सामर्थ्यानुसार एक-दो घड़ी या इससे भी अधिक सामायिक कर सकते हैं।

ऐसे ही सामायिक के लिए कौन-सा समय उपयुक्त है? इस विषय में कार्तिकानुप्रेक्षा में बतलाया गया है कि संयमी व्रती को प्रातः, मध्याह्न एवं सांयकाल सामायिक करना समुचित है।[1]

सामायिक के भेद

(क) द्विविध भेद

आचार्यों ने सामायिक के पात्र को दृष्टि में रख कर दो भेद बतलाए हैं-(क) गृहस्थ की सामायिक (ख) श्रमण की सामायिक।[2] गृहस्थ की सामायिक एक मुहूर्त यानि अड़तालीस मिनट की होती है। अधिक समय के लिए वह अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार सामायिकव्रत धारण कर सकता है। किन्तु श्रमण की सामायिक यावज्जीवन पर्यन्त के लिए होती है।

एक अन्य प्रकार से भी सामायिक के-द्रव्य और भाव ये दो भेद बतलाए गए हैं :

द्रव्य सामायिक-सामायिक ग्रहण करने से पहिले कुछ एक विधि-विधान किए जाते हैं। इनमें सामायिक के लिए आसन बिछाना, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि धार्मिक उपकरण एकत्रित कर एक स्थान पर अवस्थित होना आदि आते हैं। यही द्रव्य सामायिक है।

भाव सामायिक-जिसमें साधक आत्म भाव में लीन हो जाता है, वह भाव सामायिक बतलायी गयी है।

(ख) त्रिविध भेद

आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद बतलाए हैं वे हैं :-

1. कार्ति०, 354
2. आव०नि०, 799
   तथा दे०स्था०सू०, 2/3/51
   दुविहं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव।।
   आव०नि०, 796

1. सम्यक्त्व सामायिक
2. श्रुत सामायिक और
3. चारित्र सामायिक।[1]

समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व और श्रुत ये दोनों आवश्यक है। बिना सम्यक्त्व के श्रुत निर्मल नहीं होता और न चारित्र ही निर्मल होता है। इस कारण दृढ़ निष्ठा एवं निष्पाप चारित्र के होने से विश्वास की विशुद्धता वृद्धिगंत होती है।

षड्विध भेद

प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में सामायिक के छह भेद किए हैं।[2] वे निम्न प्रकार हैं-

नामसामायिक-शुभ और अशुभ के भेदों को सुनकर रागद्वेष को त्यागना नामसामायिक है।

स्थापना सामायिक-शुभ और अशुभ, चेतन व जड़ पदार्थों को देखकर राग द्वेषादि का त्याग स्थापना विशेष है, उसे स्थापना सामायिक कहते हैं।

द्रव्य सामायिक-सोने और मिट्टी में समान भाव रखना, द्रव्य सामायिक है।

क्षेत्र सामायिक-शुभ देश में सुख पाकर और अशुभ में दुःख पाकर राग-द्वेष का त्याग करना, क्षेत्र सामायिक है।

काल सामायिक-शीत एवं उष्ण काल में समता धारण करना, काल सामायिक कहते हैं।

भाव सामायिक-मित्र-शत्रु आदि में राग-द्वेष न रखकर अपने को समस्त पापों से रहित बना लेना, भाव सामायिक होती है।

सामायिक व्रत के अतिचार

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार माने गए हैं। उपासकदशांगसूत्र में मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, सामायिक की समयाविध का ध्यान न होना और सामायिक अनवस्थित करणता-ये पांच अतिचार माने हैं।[3]

1. समाइयं च तिविहं, सम्मत्तं सुयं तहा चरितं च।
   दुविहं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव।। आ०नि० 796
2. प्रश्नो०श्राव०, 18/24-29
3. पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-मण-
   दुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ
   अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया।। उपा०सू०, 1/49
   तथा दे०आव०सू०, 9वां

तत्त्वार्थसूत्र में काय दुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर व स्मृत्यनुस्थान ये पांच अतिचार स्वीकार किए हैं।[1]

जैन वाङ्मय में सामायिक व्रत के अतिचारों का एक समाना वर्णन मिलता है। यदि उनमें कुछ भिन्नता है, तो वह है उनके क्रम को लेकर। किसी ग्रन्थकार ने किसी एक अतिचार को पहले गिनाया है, तो दूसरे आचार्यों ने बाद में उनकी गणना की है।

मनोदुष्प्रणिधान

सामायिक करने में मन का एकाग्र न होना मनोदुष्प्रणिधान अतिचार है। सामायिक लेने के बाद घर सम्बन्धी शुभाशुभ का चिन्तवन करने से मन एकाग्र नहीं रहता।[2] लाटी संहिता में कहा गया है कि अपने आत्मा के चिन्तवन के सिवाय अथवा पंच परमेष्ठी के स्वरूप के चिन्तवन के सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ का चिन्तवन करना मनोदुष्प्रणिधान नाम का अतिचार है।[3]

वचन दुष्प्रणिधान

सामायिक में कठोर वचन दुष्प्रणिधान अतिचार है।[4] सामायिक करते समय हूँ, हाँ, आदि रूप में वचनों की प्रवृत्ति सामायिक के सिवाय अन्य कार्यों में लगाना वचन दुष्प्रणिधान अतिचार कहलाता है।[5] कारण यह है कि शब्दों के उच्चारण में, उसके भाव रूप अर्थ में अजानकारी तथा चपलता के होने से सम्पन्न वचन व्याघात होता है।[6]

---

1. त०सू०, 7/28
   तथा दै०रत्न०, 5/15; सागार० 5/33
2. 'मणदुप्पणिहाणे' त्ति मनसो दुष्टं प्रणिधानं प्रयोगो मनोदुष्प्रणिधानं
   कृत सामायिकस्स गृहेतिकर्तव्यतायां सुकृतदुष्कृतपरिचिन्तनमिति भाव:।।
   उपा०टीका, पृ० 47
3. सामायिकादितोऽन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत्।
   मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोऽतीचारसंज्ञक:।।
   लाटी०, 5/189
4. 'वयदुप्पणिहाणे' त्ति कृतसामायिकस्स निष्ठुर सावद्यवाक् प्रयोग:।।
   उपा०टीका, पृ० 47
5. लाटी०, 5/190
6. वर्णसंस्कारे भावार्थे चागमकत्वं चापलादिवाग्दु: प्रणिधान:।।
   चारित्र०, 246

काय दुष्प्रणिधान

सामायिक कर रहा श्रावक भूमि परिमार्जन किए बिना हाथ, पैर आदि शरीर के अंगों को बिना उपयोग रखना अर्थात् बिना प्रयोजन किए सोना, बैठना, उठना इत्यादि सावद्य व्यापार में काया को प्रवर्तना–यह काय प्रणिधान अतिचार है।[1] इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि सामायिक करते समय अपने शरीर की प्रवृत्ति उसके सिवाय किसी अन्य कार्य में लगाना, हाथ-अंगुली-माथा-आँख-भौंह आदि के इशारे से भी किसी कार्य का इशारा करना और किसी पदार्थ को इशारे से दिखलाना काय दुष्प्रणिधान नाम का अतिचार है।[2] चारित्रसार में भी आता है कि शरीर के हस्त-पाद आदि अंगों को स्थिर नहीं रखना काय दुष्प्रणिधान है।[3] इसके अलावा जो साधक सामायिक योग्य भूमि को आँखों से न देखकर, कोमल वस्त्रों से प्रमार्जन न कर उस स्थान का सेवन करता है, उसे भी काय दुष्प्रणिधान अतिचार दोष लगता है।[4]

सामायिक स्मृति अकरणता

सामायिक का विस्मृत हो जाना अर्थात् प्रबल प्रमाद के कारण मैंने सामायिक की थी या नहीं की थी, ऐसा भ्रम हो जाना सामायिक स्मृति अकरण अतिचार है।[5]

सामायिक अवस्थित करण

सामायिक का समय पूर्ण होने से पहले सामायिक पारणा अथवा आदर रहित सामायिक करना सामायिक अवस्थित करण अतिचार है।[6]

इस प्रकार निर्दोष सामायिक हो, इसके लिए मन, वचन और काया का जागरुक रहना परमावश्यक है। जागरुकता से स्मरणशक्ति प्रबल होती है और तीक्ष्ण स्मृति सम्यक्चारित्र को पुष्ट करती है।

---

1. 'कायदुप्पणिहाणे' त्ति कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ
   करचरणा दीनां देहावयवानामनिभृतस्थापनमिति।।
   उपा०टीका, पृ० 47
2. लाटी०, 5/191
3. शरीरावयवानामनिभृतावस्थानं काय:दुष्प्रणिधानम्।।
   चारित्र०, 246
4. श्रा०प्र०, पृ० 315
5. उपा०टीका, पृ० 47-48
6. अणवट्ठियस्स करणाय त्ति अनवस्थितस्य अल्पकालीनस्या
   नियतस्य वा सामायिकस्स करणमनवस्थित करणं।।
   उपा०टीका, पृ० 48

2. देशावकाशिकव्रत

अमुक निश्चित समय विशेष के लिए क्षेत्र की मर्यादा करना और इससे बाहर किसी प्रकार की सांसारिक प्रवृत्ति न करना देशावकाशिक व्रत है। दिग्व्रत धारण करने में जो अवकाश या मर्यादा रखी जाती है, उसी को कुछ समय के लिए सीमित कर धारण करना देशावकाशिकव्रत है।[1] इसे देशव्रत पद भी मिलता है।

उपासकदशांगसूत्र,[2] रत्नकरण्डश्रावकाचार[3] और कार्तिकेयानुप्रेक्षा[4] आदि ग्रन्थों में इसे शिक्षाव्रत माना गया है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र,[5] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,[6] उपासकाध्ययन,[7] अमितगतिश्रावकाचार,[8] वसुनन्दि श्रावकाचार[9] के रचनाकारों ने इस व्रत को गुणव्रत में स्थान दिया है।

इस प्रकार देशावकाशिकव्रत को गुणव्रत माना जाए अथवा शिक्षाव्रत इसमें आचार्यों में अवश्य मतभेद है, किन्तु उसके स्वरूप कथन में उन सभी में कोई भिन्नता नजर नहीं आती।

जिस साधक ने दिग्व्रत का संयम धारण किया है, वही साधक अपने दैनिक जीवन में कुछ दिन, कुछ घड़ी-घंटों अथवा कुछ समय के लिए अपने कार्य कलाप की मर्यादा बांध सकता है और उसका वह निर्विघ्न पालन कर सकता है, जब साधक ऐसा करता है, तभी उसे देशावकाशिकव्रती कहा जाता है। इस व्रत के करने से दिग्व्रत में विशदता आती है।

जैनाचार्यों ने देशावकाशिकव्रत में निर्दोष आचारणार्थ चौदह नियम बतलाए

1. देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिग्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानेमवतारो विषयो तस्य तद्देशावकाशं तदेव देशावकाशिकम् दिग्व्रतग्रहीतस्य दिक् परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेप करण लक्षणे वा।।
   स्था०टीका, 4/3
2. पंचाणुव्व्इयं सतत सिक्खावइयं।।
   उपा०सू०, 1/12
3. रत्न०, 5/2
4. कार्ति०, 367-368
5. त०सू०, 7/21
6. पुरुषार्थ० 138-140
7. उपा०सू०, 449
8. अमित०श्राव०, 6/78
9. वसु०श्राव०, 215

हैं। इन नियमों को ग्रहण करने से जीवन अनुशासित होता है और संयम एवं त्याग मार्ग में दृढ़ता भी आती है। वे चौदह नियम हैं–

सचित

प्रतिदिन अन्न, फल, पानी आदि के रूप में जिन सचित वस्तुओं का सेवन करते हैं, उनकी मर्यादा निश्चित करना। प्रस्तुत मर्यादा संख्या, तोल और माप के रूप में की जाती है।

द्रव्य

खाने-पीने सम्बन्धी अधिक वस्तुओं का उपयोग नहीं करना।

विगय

घी, तेल, दूध, दही, गुड़ और पक्वान। प्रतिदिन भोजन में किसी एक व दो का नियमित त्याग करना, ग्रहण न करना मर्यादा कहलाता है।

पण्णी

उपानह (जूते), मोजे, खड़ाऊ, चप्पल आदि पैर में पहली जाने वाली वस्तुओं की मर्यादा करना।

वस्त्र

प्रतिदिन पहने जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा करना।

कुसुम

कुसुम अर्थात् सुगन्धित फूल, इत्र और सुगन्धित पदार्थों की मर्यादा करना।

वाहन

प्रतिदिन वाहन आदि की भी मर्यादा करना।

शयन

मर्यादा में शय्या एवं स्थान की मर्यादा करना।

विलेपन

प्रतिदिन केसर, चन्दन, तेल प्रभृति लेप किए जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।

ब्रह्मचर्य

प्रतिदिन मैथुन सेवन की मर्यादा करना।

दिशा

दिशा में यातायात व अन्य प्रवृत्तियाँ की जाती हैं। प्रतिदिन दिशाओं की भी मर्यादा करना।

स्नान

प्रतिदिन स्नान और जल की मर्यादा करना।

भक्त

असन, पान, खादिम (खाने योग्य), स्वादिम (स्वाद लेने योग्य) भक्त कहलाता है। प्रतिदिन इसकी मर्यादा करना।

ताम्बूल

मुख को सुवासित करने वाले पदार्थों को ताम्बूल कहते हैं। इसकी प्रतिदिन मर्यादा करना।[1]

अतिचार

प्रत्येक व्रत की भांति देशावकाशिकव्रत के भी पांच अतिचार स्वीकार किए गए हैं। उपासकदशांगसूत्र में आानयन प्रयोग, प्रेष्य प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और बहिः पुद्गल प्रक्षेप ये पांच देशावकाशिकव्रत के अतिचार बतलाए गए हैं।[2]

1. मंगल, 403
2. (क) तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-आणावणप्पओगे, पेसवणप्प ओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पोग्गल पक्खेवे।। उपा०सू०, 1/50
   (ख) त०सू०, 7/26 (ग) सागार०, 5/27
   (घ) (मोहन लाल मेहता) जै०आ०, पृ० 116

देशावकाशिकव्रत के इन अतिचारों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रायः सभी ग्रन्थों में अतिचारों के नाम एवं स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं है। मात्र कहीं शब्द भिन्नता है या क्रम में अन्तर है।

आनयन प्रयोग

किए हुए परिमाण से अधिक भूमि से सचित्तादि द्रव्य आदि मंगवाना या किसी को संदेशा भेजकर मंगवाना आनयन प्रयोग है।[1]

प्रेष्य प्रयोग

मर्यादित क्षेत्र से बाहर के कार्यों का सम्पादन करने के लिए नौकर आदि को भेजना प्रेष्य प्रयोग है।[2] इसका तात्पर्य है कि स्वयं मर्यादा में रहकर 'तुम यह लाओ' ऐसा कहकर मर्यादा से बाहर नौकर आदि को भेजकर कार्य सम्पादन करना प्रेष्य प्रयोग अतिचार है।[3]

शब्दानुपात

अपने घर की हद या किले आदि रो बाहर जाने का अभिग्रह लेने के बाद बाहर का कोई कार्य आ जाए, उस समय स्वयं बाहर न जा सके, इसलिए समीप में रहने वाले को खांसी आदि शब्द करके अपना होना सूचित करना यह शब्दानुपात अतिचार है।[4]

रूपानुपात

नियत क्षेत्र से बाहर का कार्य करने के लिए दूसरों को हाथ आदि का इशारा कर समझाना रूपानुपात है।[5]

1. विशिष्टावधिके भूदेशाभिग्रहे परतः स्वयंगमनायोगाद्यदन्यः सचित्तादि द्रव्यानयने प्रयुज्यते सन्देशकप्रदानादिना त्वयेदमानेयम् इत्यानयन प्रयोगः।। उपा०टीका, पृ० 49
2. बलाद्विनियोज्यः प्रेष्यस्तस्य प्रयोगो, यथाभिगृहीतप्रविचार देशव्यतिक्रमभयात्।। उपा०टीका, पृ० 49
3. सागार, पृ० 53
4. शब्दानुपातः शब्दस्यानुपातनम्-उच्चारणंतादृश्येन परकीय श्रवणविवरम नुपतत्यसाविति।। उपा०टीका, पृ० 50
5. वही, पृ० 50

बहिः पुद्गल प्रक्षेप

अभिग्रहीत प्रदेश के बाहर का कोई कार्य आ जाने पर दूसरों को अपना होना सूचित करने के लिए कंकड़ आदि फेंकना पुद्गल प्रक्षेप अतिचार है।[1]

3. पौषधोपवासव्रत

एक दिन-रात यानि आठ प्रहर के लिए चार आहार, हीरे, मणि एवं सुवर्ण आभूषण, पुष्पमाला सुगन्धित चूर्ण आदि उपभोग योग्य वस्तुओं और मन-वचन-काय आदि के सावद्य व्यापारों का परित्याग कर एकान्त (धर्म स्थान) में धर्म ध्यान में लीन रहना पौषधोपवास कहलाता है।

अष्टमी, चतुर्दशी[2] आदि पर्वतिथियों के दिन उपवास करना भी पौषधोपवास बतलाया गया है।[3] इस प्रकार पौषधोपवास का अर्थ पर्व तिथि त्यौहार पर किया जाने वाला उपवास विशेष है।

श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र[4] एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार[5] प्रभृति ग्रन्थों में पौषधोपवासधारी को हिंसा आदि पांच पापों, स्नान, विलेपन और सुगन्ध आदि का त्याग करने और उस अवधि में किसी प्रकार का आहार ग्रहण न करना विहित है।

इस प्रकार पौषधोपवासव्रत में अशनपान, खादिम, स्वादिम-इन चारों आहारों का, शरीर की वेषभूषा, स्नान, मैथुन व अन्य समस्त पाप पूर्ण कार्यों को वर्जित बतलाया गया है।

पौषधोपवास के अतिचार

अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित, शय्या संस्तारक, संस्तारक, अप्रमार्जित-

1. 'बहिया पोग्गलपक्खेवि' त्ति अभिगृहीतदेशाद्बहिः प्रयोजनसद्भावे परेषाम् प्रबोधनाय लेष्ट्वादिपुद्गलप्रेक्षेप इति भावना। वही, पृ० 50
2. वही, पृ० 50
   तथा दे० पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
   चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं यदेच्छसि।। रत्न०, 5/16
3. 'पोसहोववासस्स' त्ति इह पोषधशब्दोऽष्टम्यादिपर्वसु रूढः, तत्र पोषधे उपवासः पोषधोपवासः, स चाहारादिविषयभेदाच्चतुर्विध इति।
   उपा०टीका, पृ० 52
4. आव०सू०, 11 अणुव्रत
5. रत्न०, 5/17
   तथा दे०कार्ति, 257 योग०, 3/85

दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक, अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रसवण भूमि, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रसवण भूमि और पौषधोपवास का अननुपालन ये पांच पौषधोपवास के अतिचार हैं।[1] तत्त्वार्थसूत्र कार अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदाननिक्षेप, अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तारक का उपक्रम, अनादर एवं स्मृति का अनुपस्थापन को पौषधोपवास के अतिचार बतलाते हैं।[2] रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र पौषधोपवास के अतिचारों की गणना भिन्न रूप से करते हैं। इनके मत में उपवास के बिना देखे, बिना शोधे किसी वस्तु का ग्रहण करना, बिना देखे बिना शोधे मल मूत्रादि का उत्सर्ग करना बिना देखे-शोधे शय्या-बिछौने आदि को बिछाना और उपवास करने में आदर नहीं करना और उपवास करके भूल जाना-ये सब पौषधोपवास के अतिचार हैं।[3] सागरधर्मामृत से भी इन्हीं अतिचारों की पुष्टि होती है।[4] इन अतिचारों का विशेष निम्न प्रकार है-

अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक

जीवों की रक्षा के लिए आँख से शय्या, संथारा आदि को देखे नहीं, देखे तो अच्छी तरह न देखे। शयन के लिए संथारा अर्थात् कंबल आदि बिछाने के वस्त्र का उपभोग जीवों को बिना देखे करना अतिचार है।[5]

1. तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच इअयाराजाणियव्वा न समायारियव्वा, तंजहा-अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जा संथोर, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जा संथारे, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहि उच्चार पासवणभूमि, अप्पमज्जिय दुप्प-मज्जियउच्चार पासवणभूमि, पोसहोववासस्स सम्भं अणणुपालणया।
   उपा०सू०, 1/51
2. त०सू०, 7/29
3. ग्रहणविसर्गाऽऽस्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
   यत्प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपञ्चकं तदिदम्।
   रत्न०, 5/10
4. दे० सागार०, 5/40
5. अप्रत्युपेक्षितो जीव रक्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षितः दुष्प्रत्युपेक्षितः, उद्।
   भ्रान्त चेतो वृत्तितयाऽसम्मग्निरीक्षितः शय्या शयनं तदर्थं संस्तारकः।।
   उपा०टीका, पृ० 52

अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक

उपासक दशांगसूत्र टीका में शय्यादि का उपयोग कोमल वस्त्र से झाड़े बिना अथवा व्याकुल चित्त से झाड़ पौंछकर करने को अतिचार माना गया है।[1]

अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्त्रवणभूमि

उपासकदशाङ्ग टीका में एक समान बिना देखे और बिना शोधे भूमि पर मलमूत्रादि छोड़ने को अतिचार माना है।

अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि

मलमूत्रादि का विसर्जन बिना शोधी हुई भूमि का करना अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि अतिचार है।[2]

पौषध सम्यकननुपालन

उपासकदशांग टीका में पौषध में अशन-पान आदि चारों आहरों का त्याग, शरीर सत्कार, वेशभूषा का त्याग, मैथुन, समस्त सावद्य व्यापार का त्याग और इनका स्मरण नहीं रखने की स्थिति को पौषधसम्यक्ननुपालन अतिचार कहा है।[4]

4. अतिथिसंविभागव्रत

उपासकदशांगसूत्र में इस व्रत को यथासंविभागव्रत कहा गया है।[5] अतिथिसंविभाग में अतिथि और संविभाग ऐसे ये दो पद हैं। जिसकी घर पर आने की कोई निश्चित तिथि अथवा समय नहीं होता, वह अतिथि कहलाता है और संविभाग का अर्थ है-सम्मान करना, आदर करना और आतिथ्य विशेष। इस प्रकार पर समागत पूज्य व्यक्ति को नवधा भक्तिपूर्वक आहार एवं औषध आदि चार प्रकार का दान देना अतिथि संविभाग कहलाता है।[6]

श्रावक के बारह व्रतों में अन्तिम और चार शिक्षाव्रतों में चौथा व्रत अतिथि संविभागव्रत है। इस व्रत का पालन करते हुए श्रावक भक्तिभाव पूर्वक आहार, औषध, वस्त्र, पात्र, शास्त्र आदि श्रमण-श्रमाणियों को प्रदान करता हैं। इस व्रत में श्रावक का अनुकम्पा एवं आद सत्कार का भाव परिलक्षित होता है।

1. उपा० टीका, पृ० 52
2. वही, पृ० 52
3. वही, पृ० 52
4. कृतौपौषधोपवासस्यास्थिरचित्ततयाऽहार शरीरं संस्कारा ब्रह्म व्यापारा णामभिलषणादननुपालना पौषधस्येति, अस्य चातिचारत्व भवतोविरतेर्वाधितत्वादिति।। वही, पृ० 52
5. उपा०सू०, 1/52
6. अतिथये संविभागोऽतिथि संविभाग:।। जै०ल०, पृ० 27

उत्तम पात्र में आहारादि का दान महाफलदायी होता है। इसी कारण अतिथि संविभागव्रती को आगन्तुक का समादर और दान-दोनों विधियों की संपूर्ति करनी चाहिए। इस व्रत में पालन में वैय्यावृत्यतप का भी फल समाविष्ट है। इसी कारण स्वामी समन्तभद्र ने अतिथिसंविभागव्रत को वैय्यावृत्य नाम देकर कहा है-कि गृह से रहित अपना धर्म पालन करने के लिए उपचार एवं उपकार की अपेक्षा से रहित साधुओं को विधिपूर्वक दान देना चाहिए।[1] श्रावकप्रज्ञप्तिकार कहते हैं कि न्याय से उपार्जित एवं कल्पनीय अन्न आदि को जो देशकाल, श्रद्धा, सत्कार व क्रम से युक्त अतिशय भक्ति के द्वारा दिया जाता है, वह चतुर्थ शिक्षाव्रत है।[2] इस प्रकार उत्तम, मध्यम या जघन्य किसी भी पात्र के मिल जाने पर उसे विधिपूर्वक प्रासुक तथा शुद्ध आहार दान देना चाहिए।

दाता के गुण

संसार में दाताओं की कमी नहीं और न ही पात्र तथा योग्य पदार्थों की ही कमी है। दाता और देय पदार्थों को लेकर वाङ्मय में सूक्ष्म चिन्तन एवं मनन किया गया है। विस्तार भय से यहाँ कुछ एक तथ्यों का उल्लेख अभीष्ट समझती हूँ। दानी श्रावक में सात गुणों का होना आवश्यक है। वे हैं-श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य।[3] ऐसा गुणवान् दानी श्रावक ही धन व दान देने का अधिकारी है।

पात्र के भेद

जिनको आहार देना चाहिए, ऐसे पात्रों के तीन भेद हैं-उत्तमपात्र, मध्यमपात्र, जघन्यपात्र।[4] मुनि उत्तमपात्र हैं, अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र है और अव्रती सम्यक्दृष्टि श्रावक जघन्यपात्र है।[5]

1. दानं वैय्यावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये। अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभेदन।। रत्न०, 5/21
2. श्रा०प्र०, 325
3. नवपुण्यै: प्रतिपति सप्तगुण समाहितेन शुद्धेन। अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्।। रत्न० 5/23
4. तत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं तत्राप्युत्कृष्टमादिमम्। द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम्।। लाटी०, 5/221
5. उमा०श्राव०, 443

दान का फल

सम्यक्दृष्टि पुरुष तीन प्रकार के पात्रों के लिए आगम के अनुसार दाना देता हुआ प्रार्थनीय कल्याणों की परम्परा को प्राप्त होता है[1] तथा जो अविरत सम्यक्दृष्टि और देशसंयत जीव हैं, वे तीनों प्रकार के पात्रों को दान के फल से स्वर्गों में महर्द्धिक देव होते हैं।[2] इस तरह दान की अचिन्त्य महिमा है।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार

उपासकदशांगसूत्र में सचित्तनिक्षेपण, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सरिता ये पांच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार बतलाए गए हैं।[3] रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित पांच अतिचारों में कुछ नामगत भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ हरितपिधान, निधान, अनादर, अस्मरण और मत्सर–ये अतिथिसंविभागव्रत के पांच अतिचार स्वीकार किए गए हैं।[4]

सचित्तनिक्षेपण

अतिथि को दान नहीं देने की बुद्धि से निर्दोष आहार को सचित वस्तु के ऊपर रखना सचितनिक्षेपण अतिचार है।[5] सचित्त कमल के पत्ते पर रखे पदार्थ को साधु को आहार दान में देना सचित्तनिक्षेप नाम का अतिचार है।[6]

सचित्तपिधान

पूर्वोक्त भावना से सचित्त वस्तु को अचित्त में एवं अचित्त वस्तु को ढक देना

1. दानं त्रिविधपात्राय सक्यक्दृष्टिर्यथागमम्।
   ददानो लभते याच्यां कल्याणानां परम्पराम्।।
   अमित०श्राव०, 11/101
2. वसु०श्राव०, 265
3. तयाणंतरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा
   न समारियव्वा, तंजहा-सचित्त निक्खेवणया, सचित्त पेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया।। उपा०सू०, 1/52
   तथा मिलाइए-सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः।।
   त०सू०, 7/31
4. रत्न०, 5/31
5. सचित्तेषु बीह्रादिषु निक्षेपणमन्नदेरदानबुद्ध्यामातृस्थानतः सचित्त निक्षेपणं।
   उपा०टीका, पृ० 53
6. लाटी० 5/226

सचित्तपिधान नामक अतिचार है।[1] जो दाल, भात आदि पदार्थ हरे कमल के पत्ते आदि सचित्त पदार्थों से ढके हुए हों, ऐसे पदार्थों का दान देने से व्रती श्रावक के लिए सचित्तपिधान नाम का दूसरा अतिचार लगता है।[2]

कालातिक्रम

साधुओं को भोजन न देने की बुद्धि से भोजन के समय को टाल देना अथवा भोजन समय के निकल जाने पर भिक्षा देने को तत्पर रहना भी कालातिक्रम अतिचार कहलाता है।[3]

परव्यपदेश

न देने की नीयत से अपनी वस्तु पराई बतलाना परव्यपदेश अतिचार है।[4]

मत्सरिता

अमुक ने यह दान दिया है, मैं इससे कम नहीं हूँ–इस ईर्ष्यापूर्वक भावना से आहार आदि दान देना अथवा क्रोधपूर्वक भिक्षा देना मात्सर्य अतिचार कहलाता है।[5]

इस प्रकार उपासकदशांगसूत्र में आनन्द आदि दस श्रावकों ने समयपूर्वक निरतिचार द्वादश व्रतों का सम्यक् पालन किया और उत्तम गति धारण की।

व्रत पालन में उपस्थित उपसर्ग

उपसर्ग जैन आगमों का पारिभाषिक शब्द है। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि जिसका सम्बन्ध होने से जीव पीड़ा का अनुभव करे, उसे उपसर्ग कहते हैं। अर्थात् जो पीड़ाओं के साथ जीव का सम्बन्ध जोड़ दे उसे उपसर्ग कहा जाता है।[6] अथवा संयम से गिराने वाली और चित्त को चलायमान करने वाली बाधा का नाम उपसर्ग है।

1. सचित्तेन फलादिना स्थगनं सचित्तपिधानम्।। उपा. टीका. पृ. 53
2. अपिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि।
   स्यात्सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणं।।
   लाटी०, 5/227
3. कालातिक्रमः कालस्य साधु भोजनकालस्यातिक्रम उल्लंघनं।।
   वही, पृ० 53
4. परव्यपदेशः परकीयमेतत्तेन साधुीयो न दीयते।।
   उपा०टीका, पृ० 53
5. वही, पृ० 53
6. विशेषा०, 3005

उपसर्ग चार प्रकार के माने गए हैं वे हैं–देवी–देवता सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी, तिर्यंच सम्बन्धी एवं आत्म संवेदनीय उपसर्ग।[1]

हास्य, प्रद्वेष, परीक्षा आदि भय, अपत्य रक्षण आदि अनेको कारणों से प्रथम तीन प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किए जाते हैं। गड्ढे आदि में गिर जाना, दीवार आदि से टकरा जाना आदि रूप में 'आत्म संवेदनीय उपसर्ग' सहन किए जाते हैं।[2]

उपासकदशांगसूत्र में वर्णित दस श्रावकों में से सात श्रावकों को देवी–देवता सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों का सामना करना पड़ा। द्वितीय अध्ययन के कामदेव श्रावक की देवराज शक्रेन्द्र द्वारा की गई धर्माराधना की दृढ़ता की बात का विश्वास न करता हुआ मिथ्यादृष्टि देव कामदेव की धर्म–आराधना में विघ्न डालने के लिए उपस्थित हुआ।[3]

सर्वप्रथम उस देव ने पिशाच का रूप बनाया और कामदेव से व्रत भंग करने के लिए कहा, परन्तु कामदेव द्वारा अविचल ध्यान में स्थित रहने पर उस पिशाच ने खड्ग से कामदेव श्रावक के टुकड़े–टुकड़े कर दिए।[4] उसी पिशाच द्वारा हाथी का रूप धारण करके उसे आकाश से उछाला, उसे तीखे दांतों पर झेला, फिर नीचे पटककर उसे पैरों से रौंदा गया।[5] पुनः सर्प रूप धारणकर विषैली तीक्ष्ण दाड़ों से उसके वक्षस्थल पर डंक मारा।[6] इससे व्यतिरिक्त चुलनीपिता श्रावक को भी एक देव उपसर्ग देने के लिए उपस्थित हुआ। देव ने उसके तीन पुत्रों को मारकर उनके टुकड़े–टुकड़े करके तेल से भरे कढ़ाई में तला और उसके पांस और रुधिर से चुलनीपिता के शरीर पर छींटे मारे[7] और उनकी माता को भी मारने के लिए उद्यत हुआ।[8]

इसी प्रकार सुरादेव श्रावक को व्रत–त्याग न करने पर सोलह रोग उत्पन्न करने की धमकी दी।[9] श्रावक चुल्लशतक को धमकी देते हुए देव ने कहा कि अगर तुम

1. स्था०सू०, 4/4/597
2. विशेषा०, 3006–3007
3. उपा०सू०, 2/90
4. वही, 2/96
5. वही, 2/102
6. वही, 2/106
7. वही, 3/128, 130
8. वही, 3/131
9. वही, 4/150

शीलादि व्रत नहीं छोड़ोगे तो मैं तुम्हारी स्वर्ग मुद्राओं को चौराहे पर बिखेर दूंगा।[1] कुण्डकौलिक को धर्म से विचलित करने के लिए देव ने मंखलिपुत्र गोशालक के नियतिवाद की चर्चा की है।[2] सद्दालपुत्र के प्रसंग पर देव ने श्रावक सद्दाल पुत्र की पत्नी की हत्या करने एवं पुत्रों की हत्या करने एवं उसके मांस को तेल से भरे कड़ाहे में तलकर उसके मांस व रुधिर से शरीर पर छिड़काव करने की बात कही है।[3]

दूसरे श्रावक से सातवें श्रावकों तक दिए गए उपसर्ग देवों के द्वारा थे। आठवें अध्ययन में महाशतक श्रावक पर उसकी पत्नी ने ही मनुष्य सम्बन्धी उपसर्ग उपस्थित किए थे तथा उसका शील खंडित करने का उपक्रम किया गया था। उसके समक्ष मोह एवं उन्मादजन्म चेष्टाएँ भी की गयीं।[4]

इस प्रकार उपासकदशांगसूत्र में वर्णित श्रावकों को व्रत पालन करते हुए अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करना पड़े।

(ख) प्रतिमा

प्रत्येक मानव मननशील, विचारशील और क्रियाशील होता है तथा वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि का इच्छुक भी रहता है, चाहे वह वृद्धि भौतिक पदार्थों या पद के लिए हो अथवा अध्यात्मिक अभ्युदय के लिए। उन्नति, प्रगति एवं वृद्धि के विषय में विचार कर वह क्रियात्मक क्षेत्र में समुन्नत होकर मानव लक्ष्य के चरम शिखर पर पहुँच जाता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र की शृंखला में श्रावक सर्वप्रथम सम्यक्त्व = श्रद्धा अर्थात् यथार्थ तत्त्वार्थ के साथ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को अंगीकार करता है और पुनः आध्यात्मिक उन्नति का इच्छुक वह श्रावक रागद्वेष रहित होकर जो उत्कृष्टतप साधना करता है, उसे ही प्रतिमा की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।

सामान्यतः प्रतिमा का अर्थ है–प्रतिज्ञा विशेष। यह प्रतिज्ञा विशेष व्रत विशेष व तप विशेष के नाम से जानी जाती है।[5] इन प्रतिमाओं को जीवन में आचरण करने

1. वही, 5/159
2. वही, 6/166
3. वही, 7/121, 123
4. वही, 8/242
5. (क) प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेतियावत्।।
   (अभय० सूरि टीका) स्था० टीका, पृ० 61
   (ख) प्रतिमा–प्रतिज्ञा अभिग्रहः।।
   वही, पत्र–184

से श्रावक भी श्रमणभूत हो जाता है, कारण वह जैसे-जैसे साधना में तल्लीन होता जाता है, वैसे-वैसे उसका आध्यात्मिक विकास भी होता जाता है। समवायांगसूत्र[1] और दशाश्रुतस्कन्धसूत्र[2] में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है। श्रावकाचार के प्रतिनिधि ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक द्वारा श्रावक की एक से लेकर ग्यारह तक प्रतिमाओं को ग्रहण करने का उल्लेख है,[3] किन्तु इन प्रतिमाओं का स्वरूपतः वर्णन उपासकदशांगसूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने किया है।[4]

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नाओं के ग्रन्थों में कुछ एक भिन्नता के साथ उपासक के लिए प्रतिमाओं का वर्णन मिलता है। यहाँ दोनों आम्नाओं में समागत प्रतिमा विषयक अध्ययन करते हैं।

(क) श्वेताम्बर परम्परानुसार[5]

1. दर्शन प्रतिमा
2. व्रत प्रतिमा
3. सामायिक प्रतिमा
4. पौषध प्रतिमा
5. नियम प्रतिमा
6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा
7. सचित्तत्याग प्रतिमा
8. आरम्भत्यागप्रतिमा
9. प्रेष्यपरित्यागप्रतिमा
10. उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमा
11. श्रमणभूत प्रतिमा

---

1. एक्कारस उवासग पडिमाओ पण्णत्ताओ, तंजहा-दंसणसावय .....समणभूए, आवि भवइ समणाउसो।। सम०, 11/71
2. इह खलु थेरेहिं भगवंतेहि एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ।। दशा०सू०, षष्ठी दशा
3. तएणं से आणंदे समणोवासए उवासग-पडिमाओ उवसंपज्जिताणं विहरइ।। उपा०सू०, 1/67
4. उपा०टीका, पृ० 73-76
5. (क) दशा०सू०, 6
   (ख) उपा०सू०, 1/67
   (ग) सम०सू०, 11/71
   (घ) योग०, 3/147
   (ङ) नि०प्र०, 7/4

(ख) दिगम्बर परम्परानुसार[1]

1. दर्शन प्रतिमा
2. व्रत प्रतिमा
3. सामायिक प्रतिमा
4. पौषध प्रतिमा
5. राचित त्याग प्रतिमा
6. रात्रिभुक्त त्याग प्रतिमा
7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा
8. आरत्भत्याग प्रतिमा
9. परिग्रहत्याग प्रतिमा
10. अनुमतित्याग प्रतिमा
11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने तथा परवर्ती आचार्यों ने उनका ही अनुसरण करते हुए ग्याहर प्रतिमाओं का एक ही गाथा में उल्लेख किया है।

प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों ही परम्पराओं में एक समान मिलते हैं, प्रेष्य और परिग्रह भी प्रायः एकार्थक है किन्तु सचित्त्याग का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में सातवां है, तो दिगम्बर परम्परा में इसे पांचवाँ स्थान प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परा में पांचवीं प्रतिमा के नियम में रात्रिभोजनत्याग का वर्णन समाहित है, जबकि दिगम्बर परम्परा में रात्रि भुक्ति त्याग को स्वतंत्र छठी प्रतिमा माना गया है। दिगम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य प्रतिमा को जहाँ सातवें स्थान पर लिया गया है, वहीं श्वेताम्बर परम्परा में इसका छठा स्थान है। श्वेताम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा में ही अनुमतित्याग प्रतिमा समाविष्ट है, किन्तु दिगम्बर ग्रंथों में इसे स्वतंत्र महत्ता प्रदान की गई है और दसवें स्थान पर रखा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा स्वीकार की गई है, तो दिगम्बर परम्परा में इस संख्या पर उद्दिष्टत्याग प्रतिमा को रखा गया है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार श्रमण सदृश हो जाता है।

इस प्रकार से ग्यारह प्रतिमाएँ वास्तव में श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं, जिनमें एक के पश्चात् दूसरी श्रेणी पर श्रावक स्वयं को स्थिरकर आत्मिक उत्थान के उत्तरोत्तर सोपान पर क्रमशः बढ़ता चला जाता है। इन प्रतिमाओं इन प्रतिमाओं का स्वरूप आचार्यों आचार्यों ने निम्न प्रकार वर्णित किया है-

1. दर्शनप्रतिमा

दर्शन का अर्थ है-श्रद्धा या सम्यक् दृष्टि। आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम

---

1. (क) वसु०श्राव०, 205-207, 274-301
   (ख) रत्न०, 7/137-147
   (ग) अमित०श्राव०, 7/67-77
   (घ) कार्ति०, 28

श्रद्धा का होना आवश्यक है। दर्शन के साथ प्रतिमा पद के लग जाने पर इसका अर्थ है–वीतरागदेव, पांच महाव्रत धारी गुरु और वीतरागी साधु बतलाए गए मार्ग पर दृढ़ विश्वास का होना। उपासकदशांगसूत्र की अभयदेव सूरि कृत टीका में बतलाया है कि जो श्रावक शंका आदि शल्य रहित होकर सम्यक् दर्शन का पूर्णत: पालन करता है, लेकिन अणुव्रत आदि गुणों से वह रहित होता है, यह प्रथम दर्शन प्रतिमा है।[1] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में भी आता है कि प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है अर्थात् श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में श्रद्धा रखता है, किन्तु वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि–विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवासा आदि का सम्यक् प्रकार से धारण नहीं होता, यह प्रथम उपासक प्रतिमा है।[2]

इस प्रकार दर्शन प्रतिमाधारी को यह आवश्यक नहीं है कि वह अणुव्रतादि का पालक हो। यहाँ दिगम्बर आचार्यों का कुछ भिन्न मिलता है। इनके अनुसार दर्शन प्रतिमा का अर्थ है–देव प्रतिमा का नित्य प्रति दर्शन करना। तत्त्व का यथार्थज्ञान सत्त्व को होना ही चाहिए। साथ ही नित्य प्रति देव दर्शन करके अपने दैनिक कार्य करना श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य है।

अत: अतिचार रहित शुद्ध सम्यक् दर्शन का धारक, संसार, शरीर और इन्द्रियों के भोगों से विरक्त, पंच परमेष्ठी के चरणों की शरण को प्राप्त और जो तात्त्विक सन्मार्ग के ग्रहण करने का पक्ष रखता है, ऐसा श्रावक दर्शन प्रतिमा से युक्त दार्शनिक श्रावक कहलाता है।[3] स्वामिकार्तिकेय के अनुसार जो सम्यक्त्वजी जीव अनेक त्रस जीवों से भरे हुए मद्य-मासादि निन्द्य द्रव्य का नियम से सेवन नहीं करता, वह दार्शनिक श्रावक है। अमितगतिश्रावकाचार में भी कहा है कि जिसका अन्यत्र चित्त नहीं लगा है, ऐसा जो पुरुष पवित्र और गोल मणियों वाली गुण से पिरोई गई हार की लड़की के समान निर्मल समीचीन दृष्टि को अपने हृदय को अपने हृदय के धारण

1. संगादि सल्ल विरहिय सम्मग्दंसणजुओ उ जो जन्तू।
सेसगुण विप्पमुक्को एसा खलु होइ पढ़मा उ।।
उपा०टीका, पृ० पृ० 73
2. सव्व धम्मरूई यावि भवइ। तस्य णं बहूइं सीलवयगुण वयं वेरमण
पच्चक्खाणपोसहोववासाइं नो सम्मं पट्ठवियाइं भवंति।।
दशा०सू०, 6 दशा
3. सम्यग्दर्शन शुद्ध: संसार शरीर भोगनिर्विण्ण:।
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिक स्तत्त्वपथगृहय:।।
रत्न०, 7/2

करता है, वह दर्शन प्रतिमाधारी उत्तम धन्यपुरुष है।[1] आचार्य वसुनन्दि लिखते हैं कि जो सम्यग्दर्शन से विशुद्ध बुद्धि सम्पन्न जीव पंच उदुम्बर[2] सहित सातों व्यसनों का परित्याग करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन श्रावक कहलाता है।[3]

उपासकदशांगसूत्र में आता है कि आनन्द श्रावक ने प्रथम उपासक प्रतिमा को यथासूत्र, यथामार्ग और यथाकल्प शरीर के द्वारा स्वीकार किया था, उसका पालन एवं शोधन करते हुए उसने उसकी पूर्ण आराधना की थी।[4]

गृहस्थधर्म नामक पुस्तक में उपाध्याय श्री फूलचन्द जी म० इस प्रतिमा के विषय में लिखते हैं कि इस प्रतिमा की आराधना साधना अविरत सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। जिसने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है, वह यह प्रतिमा धारण नहीं करता और न औपशमिक सम्यक्त्वधारी ही यह प्रतिमा धारण करता है। कारण यह कि क्षायिक सम्यक्त्वधारी का सम्यक्त्व निर्मल होता है, उसको अतिचार नहीं लगता और औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त की ही होती है, अत: वह मासिक प्रतिमा को किस प्रकार धारण कर सकता है। इसलिए क्षयोपशामिक सम्यक्त्वी ही प्रस्तुत प्रतिमा धारण करते हैं।[5]

इस प्रकार इस प्रतिमा से श्रावक को सम्यक्दृष्टि प्राप्त होती है। धर्म, दर्शन एवं धार्मिक सिद्धान्तों आदि के विषय में यह प्रतिमा श्रावक के मन में श्रद्धा एवं विश्वास को सुदृढ़ करती है। इस प्रतिमा का आराधना काल एक मास है।

2. व्रत प्रतिमा

सम्यक्त्वरूप प्रथम प्रतिमा का निरतिचार पाल न करते हुए श्रावक दूसरे अणुव्रतादि व्रत की सम्यक् आराधना करता है, तब वह व्रत प्रतिमाधारी कहलाता है।

1. यो निर्मलां दृष्टिमनन्यचित्त: पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम्।
गुणनबद्ध हृदये निधत्ते स दर्शनी धन्यतमोऽभ्यधायि।।
अमित०श्राव०, 7/67
2. बड़ का फूल, गूलर, पीपल का फल, अंजीर और पाकर इनको उदुम्बर कहते हैं।
3. पंचुंवर सहियाइं परिहरेइ इय जो सत्त विसणाइं।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ।।
वसु०श्राव०, 205
4. पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं,
सम्मं काएण फासेइ पालेइ सोहेइ तीरेइ किट्टेइ आराहेइ।।
उपा०सू०, 1/67
5. गृह०, पृ० 20

व्रत प्रतिमा का परिपालन दो मास तक किया जाता है। उपासकदशांगसूत्र की टीका में दूसरी प्रतिमा का स्वरूप बतलाते हुए अभयदेवसूरि लिखते हैं कि जो अनुकम्पा आदि गुणयुक्त जीव दर्शन प्रतिमायुक्त रहकर लिए हुए अणुव्रतों को निरतिचाररूप से दो मास तक पालन करता है, तब उसे व्रत प्रतिमा होती है।[1] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र[2] में शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादिविरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि का सम्यक् परिपालन करना व्रतप्रतिमा बतलाया गया है। आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में जो पुरुष माया, मिथ्यात्व और निदान–इन तीनों शल्यों से रहित होकर निरतिचार पांचों अणुव्रतों तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सातों शीलव्रतों को धारण करता है, वह व्रतीजनों के मध्य में व्रतप्रतिमा का धारक व्रतिक श्रावक कहलाता है।[3] इसी व्रतिक श्रावक को दृढ़चित्त वाला और समभावी कहा गया है।[4] अमितगतिश्रावकाचार में आता है कि जो धीर पुरुष सर्वप्रकार के सुखों के भण्डार और पवित्र स्वर्ग–मोक्षरूप लक्ष्मी को आकृष्ट करने में समर्थ ऐसे बारह व्रतों को आभूषणों के समान धारण करता है, उसे व्रताधिकारियों में श्रेष्ठ पुरुष व्रतप्रतिमाधारी कहते हैं।[5]

द्वादशव्रतों में श्रावक आठवें व्रत तक तो नियमित रूप से व्रतों का पालन करता है किन्तु सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों की आराधना परिस्थिति के कारण

1. दंसणपडिमाजुतो पालेन्तोऽणव्वए निरइयारे।
   अणुकंपाइ गुण जुओ जीवो इह होइ वयपडिमा।।
   उपा०टीका, पृ० 74
2. तस्स णं बहुइं सीलवयगुणवयवेरमणपच्चक्खाण
   पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति, से णं
   सामाइयं देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ।।
   दशा०सू०, 6 दशा
3. निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
   धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः।।
   रत्न० 7/3
   तथा देखिए–वसु०श्राव०, 207
4. पंचाणुव्वयधारी गुणवय-सिक्खावएहिं संजुतो।
   दिढचित्तो समजुतो णणी वयसावओ होदि।।
   कार्ति 29
5. विभूषणानीव दधाति धीरो व्रतानि यः सर्वसुखाकराणि।
   आकृष्टुमीशानि पवित्रलक्ष्मीं तं वर्णयन्ते व्रतिनं वरिष्ठाः।।
   अमित०श्राव०, 7/68

नियमित रूप से व सम्यक् प्रकार से नहीं कर पाता, परन्तु उसकी श्रद्धा प्ररूपणा सम्यक् होती है।

उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक ने पहली प्रतिमा के यथावत् ग्रहण करने के बाद दूसरी, तीसरी, चौथी यावत् ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा तक का आराधन किया था।[1]

इस प्रकार जब व्यक्ति उत्कृष्ट साधना के मार्ग पर अग्रसर होता है, सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, तब वह चारित्र के विकास में आगे बढ़ने की कामना करने लगता है और इसी में वह स्व-सामर्थ्यानुसार पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों का निरतिचार पालन करता है।

3. सामायिक प्रतिमा

सामायिक का अर्थ है–जीवन में समता भाव का आना। दर्शन एवं व्रत प्रतिमा स्वीकार करने के पश्चात् प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है। इसकी अवधि दो घड़ी बतलाई गई है। इस प्रतिमा का पालन व्रती को तीन मास तक करना होता है। उपासकदशांगटीका में सम्यक् दर्शन और अणुव्रतों को स्वीकार करने के पश्चात् तीन बार सामायिक करने की स्थिति को सामायिकप्रतिमा बतलाया गया है।[2] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में पूर्वोक्त दोनों प्रतिमाओं के साथ-साथ सामायिक एवं देशावकाशिक शिक्षाव्रत का सम्यक् परिपालन तो व्रती करता है, परन्तु अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णमासी को परिपूर्ण पौषधोपवास को नहीं करता व्रती सामायिक प्रतिमाधारी कहलाता है।[3] यहाँ आचार्य समन्तभद्र का अपना विशिष्ट मन्तव्य है। वे कहते हैं कि चार बार तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करने वाला यथारूप से अवस्थित कायोत्सर्ग और पद्मासन का धारक मन, वचन काय की शुद्धि से युक्त तीनों समय सामायिक करने वाला व्यक्ति सामायिक प्रतिमाधारी होता है।[4]

1. उपा०सू०, 1/68
2. वरदंसणवयजुतो सामाइयं कुणइ जो उ तिसंझासु।
   उक्कोसेण तिमासं एसा सामाइयप्पडिमा। उपा०टीका, पृ० 75
3. से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ।
   सेणं चउदिसि-अट्ठमि-उद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं
   पोसहोववासं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ। दशा०सू०, 6/19
4. चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजात।
   सामायिकसे द्विनिषद्यस्त्रियोग शुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी।। रत्न०, 7/4